Nav Jyoti, Vol. 5, No. 10, January-June 2017 ISSN : 2249-7331

भारतीय संस्कृति में त्याग तथा भोग का समन्वय

डॉ0 सुमन लता देवी*

भारतीय संस्कृति का अनुर्वतन करने वाले समाज व्यवस्था में त्याग और भोग का जैसा समन्वय किया गया है, वैसा अन्यत्र सामाजिक व्यवस्था में नहीं मिलता है। यहाँ समय–समय पर महर्षि दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि महान सन्तों ने जन्म लेकर अपनी वाणी से राष्ट्र को जगाया और आध्यात्मिक सत्ता का सन्देश दिया। ''एकोऽहं बहुस्याम्'' एक ब्रह्म से ही यह अनेक विध सृष्टि उत्पन्न हुई है। ''ईश्वर अंश जीव अविनाशी'' इस भाव को चित्त में धारण करके मनुष्य किसी को पीड़ित नहीं कर सकता। कठोपनिषद में नचिकेता के त्याग की प्रशंसा की गयी है। परमात्मा नामक नित्यस्थिर निधि को प्राप्त करने के लिए नचिकेता ने महाराज यमराज के द्वारा दिये जाने वाले सांसारिक भोग समूह को त्याग दिया।[1]

मानव का भोगमय प्रवृत्ति पानी की धारा की तरह बहने पर धर्म का ह्रास होने लगेगा, मानव असद् आचरण से समाज को पीड़ित करेगा। त्याग रूपी अंकुश से शास्त्र के उपदेशों का पालन करके यह देवत्व को प्राप्त करेगा। ईशावास्योपनिषद उपदेश देता है कि हे मानव इस दृश्य जगत में जो कुछ भी है वह ईश भगवान परमब्रह्म से ओत–प्रोत है इस संसार का भोग त्याग भाव से करो। कभी किसी का धन मत छीनों।[2] सम्पूर्ण प्राणी आत्मा में समाहित है और समस्त प्राणियों में आत्मा विद्यमान है इस सर्वात्म्य दर्शन को समझकर प्राणी किसी से घृणा नहीं करता।[3]

त्याग और भोग का समन्वय ही भारतीय संस्कृति की आधारशिला है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि भोगवादी बनकर जीवनयापन करने से मनुष्य त्यागमय जीवन से बहुत दूर चला जाता है। इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करने वाले पुरूष की विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना, कामना पूर्ण न होने पर क्रोध, क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृतिभ्रम, स्मृति भ्रम से बुद्धि का नाश हो जाता है, और वह परमलक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है।[4] बुद्धिनाश के कारण ही उसके अन्दर स्वामित्व या प्रभुत्व की दुर्भावना उत्पन्न होती है। वह अहंकार वश आत्मोपार्जित भोग पदार्थ को अपना समझ लेता है और भोगवादी बनकर त्यागमय जीवन से दूर चला जाता है। जीवन को त्यागमय बनाने के लिए भगवान कृष्ण उपदेशित करते हैं कि पुरूष अपनी इन्द्रियों को विषयों में वैसे ही समेट ले जैसे कूर्म अपने अंगों को पीठ के नीचे समेट लेता है। इससे उसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है।[5] पुरूष अपने आपको योगमय आत्मशुद्धि आत्मनियन्त्रण करके जितेन्द्रिय होकर अपने को सबके साथ तन्मय कर लेता है, ऐसा पुरूष कर्म करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होता।[6] वह केवल कर्म करने में ही अपना अधिकार समझता है, फल की इच्छा में नहीं वह सभी कर्म ईश्वर को समर्पित करके करता है[7] और त्यागमयय जीवन व्यतीत करता है।

यजुर्वेद में (विराट पुरूष) के मुख से ब्राह्मण, बाहू से क्षत्रिय, ऊरू से वैश्य, पैर से शुद्र की उत्पत्ति बतलाकर वर्ण व्यवस्था का निर्देश किया गया है।[8] समाज रूपी महापुरूष की कल्पना भी इस मंत्र के अनुसार की जा सकती है। उस समाजरूपी महापुरूष का ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय वाहु वैश्य पेट तथा शुद्ध पैर है। मानव शरीर का सारा व्यवहार अंग–प्रत्यंग के उस व्यवहार पर निर्भर है जिसका आधार त्याग और भोग का समन्वय है। कोई भी इन्द्रिय इस देह में केवल अपने लिए कार्य नहीं करती। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सम्पादित होने वाला ज्ञान सारी देह के काम आता है। कर्मेन्द्रियों का कर्म भी सारी देह के लिए होता है। ज्ञान एवं कर्म के रूप में जो कुछ भी भोग करती हैं उसका त्याग समूचे देह के लिए कर देती है। तभी देह का व्यापार निर्वघ्न रूप से चलता है। उदाहरण के लिए भोजन की व्यवस्था पर ध्यान देते हैं। हाथों द्वारा मुख में अर्पण किया गया भोजन पेट में पहुँच जाता है। पेट में पचन होकर उसका रक्त–वीर्य बनकर सारी देह में यथावत समा जाता है। पुनः पानी से हाथ और मुँह को क्या शौचक्रिया से पेट को इतना साफ कर देना आवश्यक है कि उसके पास कुछ भी जमा न रह जाय। यदि जमा रह जाये तो पेट में कब्ज पैदा करके सारे शरीर को रोग से आक्रान्त कर देता है, जिससे शरीर का सारा व्यवहार रूक जाता है। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शुद्र को भी अपना–अपना व्यवहार त्याग के भावना से

* एसो0 प्रो0, विभागाध्यक्ष संस्कृत, डा0 राम मनोहर लोहिया पी0जी0 कालेज, भैरव तालाब, वाराणसी

करना चाहिए। आचार्य मनु ने भी अपनी मनुस्मृति में चारों वर्णों के लिए त्यागमय जीवन–यापन करने का आदेश दिया है–

ब्रह्मचारी में शिक्षा प्राप्त करने पर कितना अहंकार हो सकता है, यह आज के विद्यार्थियों के निरंकुश जीवन से सहज में मालूम हो जाता है। इसीलिए ब्रह्मचारी को गुरू के चरणों में आत्मसमर्पण करके, आश्रम में जीवन बिताने और भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करने के लिए कहा गया है। राजाओं तक के बालकों के लिए यही व्यवस्था थी। गृहस्थ को सब आश्रमों का वैसे ही आधार बताया गया है जैसे वायु सब प्राणियों का आधार है।[9] गृहस्थ के त्याग के विषय में मनु ने स्पष्ट किया है कि जैसे– नदी स्वयं अपना जल नहीं पीती और प्राणि मात्र के लिए उसका तट खुला रहता है, वैसे ही गृहस्थ को भी अपना उपार्जित धन का उपभोग स्वयं नहीं करना चाहिए। त्याग की भावना से अपने घर का द्वार सदा ही भिक्षा के लिए आने वाले ब्रह्मचारी वानप्रस्थी और सन्यासी के लिए खुला रखना चाहिए।[10] सन्यासी को संसार के समस्त सम्मान का अधिकारी बताकर भी उपदेश दिया है कि ब्राह्मण को सम्मान को विष मानकर उससे सदैव उदासीन रहना चाहिए और अपमान को अमृत मानकर सदैव उसी की इच्छा करना चाहिए।[11] असम्मान से सन्यासी के तप की वृद्धि होती है और सम्मान से उसके तप का नाश होता है। जिस ब्राह्मण का पूजा, प्रतिष्ठा तथा सम्मान किया जाता है वह दूही हुई गौ की तरह सूख जाता है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि त्याग और भोग का समन्वय करके जीवन व्यतीत करने से पुनः मनुष्य अपनी पवित्र कल्याणमय विचार से स्वस्थ, निरोग जीवन व्यतीत करेगा और एक स्वस्थ सुन्दर समाज की रचना सम्भव हो सकेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभस्य पाश्म्।
   स्तोममद्धुरूगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्वा धीरो नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः।
   – कठोपनिषद अ0 1–2–11
2. ऊँ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
   तेन व्यक्तेन भुंजीथा मा गृधःकस्थस्विद्धनम्।। – ईशावास्योपनिषद–1
3. यस्त् सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
   सर्वभुतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। – वही, 6
4. ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
   सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभितजायते।
   क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहत्स्मृतिविभ्रमः।
   स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशार्त्प्रणश्यति।। –गीता, 2/62, 63
5. यदा संहरते चायं कर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
   इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। –वही, 2/58
6. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
   सर्वभूतात्मभूतात्या कुर्वन्नपि न लिप्यते।। – वही, 5/7
7. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
   मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्माणि।। –वही 2/47
8. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः।
   ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पदेभ्याऽशुद्रो अजायत्।। –यजु0 31 अध्याय 11वाँ मंत्र
9. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
   तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।। –वही, 3/77
10. यथा नदीनदः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
    तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति सांस्थितिम्।। –वही, 6/90
11. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
    अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा।। –कल्याण हिन्दूसंस्कृति अंक

●